# गुलाम माज़ी पर कुछ आज़ाद ख़याल

पार्थो दत्ता

औपनिवेशिक आधुनिकता के सबसे शानदार स्मारक आज भी शायद हमारे शहर ही हैं। बड़े-बड़े शहर — कोलकाता, चेन्नई, मुंबई, नई दिल्ली। अपने दामन में जो विरासत इन्होंने समेट रखी है, वह काफ़ी हद तक दुविधाग्रस्त है। दिल्ली के इंडिया गेट गोल चक्कर पर बनी छतरी का क्या किया जाए, इस बारे में कन्ज़र्वेशन सोसायटी द्वारा बुलाई गई बैठक में शिरकत करने वाला कोई भी व्यक्ति याद कर सकता है कि लुटियंस की भव्य योजना और उसकी विरासत के पक्ष-विपक्ष में कैसे-कैसे बेमिसाल तर्क दिए गए थे। यह दुविधा एक वास्तविक दुविधा है। नेहरू प्लेस और भीकाजी कामा प्लेस (आज़ादी के बाद विकसित हुए उद्योग और उद्यमशीलता में दिल्ली का योगदान) की बेरौनक़ शक्लोसूरत के बारे में सोचिए और एक नज़र कनॉट प्लेस के राजसी गलियारों पर डालिए जहाँ तपती दोपहरी में भी आदमी थोड़ा-बहुत टहल कर समय काट सकता है। और इससे भी ज़्यादा बेमिसाल उदाहरण तो कोलकाता का मेट्रो है — जी हाँ, इस शहर का सबसे बड़ा गौरव और आनंद। हाल ही में उत्तरी कोलकाता और दक्षिणी कोलकाता को जोड़ने वाले हिस्से का भी उद्घाटन किया गया है। इस नई पट्टी ने शहर के उत्तरी छोर से आने वाले मुसाफ़िरों की रोज़ाना की समस्याओं को हमेशा के लिए हल कर दिया है। यह इंजीनियरिंग दक्षता का एक बेमिसाल उदाहरण है। मगर ये भी सच है कि अगर सेंट्रल एवेन्यू न होता तो शहर के सबसे भीड़-भाड़ वाले इलाक़ों की तरफ़ जाने वाला यह भूमिगत रास्ता बनाना असंभव हो जाता। सेंट्रल एवेन्यू तीस के दशक की विरासत का हिस्सा है। यह अंग्रेज़ नगर नियोजक ई.पी. रिचर्ड्स और कलकत्ता इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट की हॉऊसमनी अभिरुचियों की उपज था। जब सेंट्रल एवेन्यू बनाया गया था तो उसके लिए यहाँ की भारतीय बस्तियों को उजाड़ा गया और आसपास के खेतों को जोत कर चौरस किया गया था। इसी वजह से सेंट्रल एवेन्यू की निर्माण योजना को कोसने वालों की भी कोई कमी नहीं थी। मगर मेट्रो के बनने तक शहर के सुगमतर चौराहों में से एक यह चौराहा उसी शान के साथ खड़ा रहा।

अपने औपनिवेशिक अतीत की विरासत का हिसाब कैसे लगाया जाए? यदि नगर पालिका के इतिहास की नज़र से देखा जाए तो सरकारी 'मरम्मत व सुधार' योजनाओं की कभी कोई कमी नहीं रही। मगर ये सारी योजनाएँ ढाक के तीन पात साबित हुईं। या तो सरकार पर्याप्त अनुदान नहीं देती, या कर्णधारों को ही इसकी फ़िक्र नहीं थी या फिर बक़ौल किपलिंग नगरपालिका की राजनीति में शिकायती, नाक-घुसेड़ू बाबुओं का ज़ोर था। नीरद चौधरी ने लिखा है कि हिंदुस्तानी कलकत्ता को 1920 के दशक तक अपनी पहली पक्की सड़क का इंतज़ार करना पड़ा। जब राष्ट्रवादी सरकार सत्ता में आई तब जाकर यहाँ पहली पक्की सड़क बनी। इसके बावजूद आगे और पीछे, दोनों तरफ़ देखने वाली दोमुँही आधुनिकता का अग्रदूत यह अतीत ही था जिसने हमें बहुत सारे प्रतिद्वंद्वी विकल्पों के चौराहे पर ला कर खड़ा कर दिया। एक प्रमुख औपनिवेशिक नगर के रूप में कोलकाता के विकास का अध्ययन हमें इस दौर के बारे में कई सूत्र प्रदान कर सकता है।

आइए एक ख़ालिस बंगाली बस्ती पर नज़र डाली जाए। कॉलेज स्ट्रीट — कॉर्नवालिस स्ट्रीट चौराहे (जिसे अब बिधान सरनी कहा जाता है) पर बंगालियों के कुछ बड़े चहेते संस्थान स्थित हैं। इस सड़क पर आपको

मेडिकल कॉलेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय, संस्कृत कॉलेज, प्रेसीडेंसी कॉलेज और थोड़ा आगे जाने पर ब्रह्मो समाज के दफ़्तर मिलेंगे। अगर कोई राधारमण मित्रा की बेहतरीन मार्गदर्शिका हाथ में लेकर इस कॉर्नवालिस स्ट्रीट से गुज़रे तो यहाँ उसे अतीत की और भी बहुत सारी रिहाइशें दिखाई देंगी। नज़दीक से देखने पर पता चलता है कि मूल रूप से यह भारतीय आबादी का इलाक़ा था ही नहीं। यह ऐतिहासिक चौरस्ता लॉर्ड वेलेज़्ली की उद्यमशीलता और उत्साह का परिणाम था। लॉर्ड वेलेज़्ली (1799-1804) को इतिहास की किताबों में इस बात के लिए याद किया जाता है कि उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यावसायिक रूपाचार को बदल कर उसे एक साम्राज्यवादी चेहरा-मोहरा दिया। उसकी यह घोषणा भी मशहूर है कि वह एक राजमहल से भारत पर शासन करना चाहता था, किसी मामूली से मालख़ाने से नहीं। अपनी इसी चाह को पूरा करने के लिए उसने कलकत्ता के बीचोंबीच एक आलीशान इमारत बनवाई जो आज बंगाल के राज्यपाल की रिहाइश है।

शहर की साफ़-सफ़ाई और आवाजाही में सुधार के लिए लॉर्ड वेलेज़्ली के दौर में ही यहाँ सड़कों का निर्माण शुरू हुआ। हालाँकि शहर पश्चिम से पूरब की तरफ़ स्वतःस्फूर्त रूप से बढ़ रहा था मगर इस फैलाव

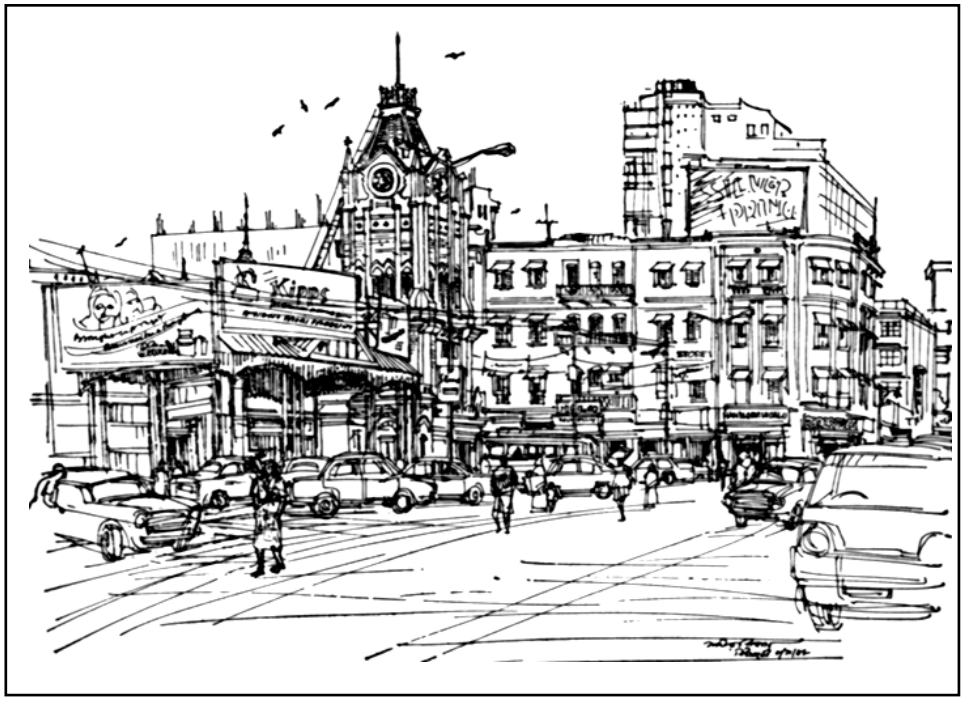


को नज़रअंदाज़ करते हुए नदी के समानांतर उत्तर की दिशा में एक चौड़ी सड़क बनायी गयी। शासकों की सुरक्षा भी उस ज़माने में एक बुनियादी कारक थी। और छावनी की तरफ़ जाने वाला एकमात्र अन्य रास्ता बैरकपुर नदी की चढ़ाई पर ही पड़ता था। ऐसी सड़क बनाकर ब्रिटिश प्रशासक इस बात की एक मिसाल भी क़ायम करना चाहते थे कि वह शहर को किस तरह का रूप-रंग देना चाहते हैं, उसे किस तरह विकसित करना चाहते हैं। शुरुआत में चित्तपुर, बड़ाबाज़ार और कोलूटोला के बंगाली अपनी जानी-पहचानी दुनिया को छोड़ने के लिए तैयार दिखाई नहीं देते थे। सिर्फ़ मुट्ठी भर दूरंदेश ज़मींदारों ने ही यहाँ आकर ज़मीन खरीदी ताकि बाद में उसे महँगी क़ीमत पर बेच सकें। 1850 के दशक तक कॉर्नवालिस स्ट्रीट उजाड़ दिखाई देती थी। चारों तरफ़ झाड़-झंखाड़ और खाली ज़मीन के सिवा कुछ नहीं था। मगर अब लोगों का रवैया बदलने लगा था। मधुसूदन गुप्तो (कोलकाता के चिकित्सकीय इतिहास में एक जाना-पहचाना नाम) ने 1840 के दशक में एक सरकारी आयोग के सामने बयान दिया कि उन्हें पुरानी बस्तियों के मुक़ाबले इस नई सड़क के आसपास के इलाक़े सेहत के लिहाज़ से ज़्यादा

बेहतर दिखाई देते हैं। उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक आते-आते अंग्रेज़ सरकार द्वारा बसाया गया यह इलाक़ा बंगाली मध्यवर्ग की पसंदीदा रिहायशी बस्ती बन चुका था। एक लिहाज़ से यह आधुनिक नगर नियोजन की सफलता के शुरुआती उदाहरणों में से एक था।

उत्तर-आधुनिकतावाद विवेक की श्रेष्ठता, महान सुधार योजनाओं और चतुष्कोणीय व एकरैखिक नियोजन के अंतर्निहित तर्क पर अविश्वास की सीख देता है। मगर यह इस बात को सम्भवतः अपर्याप्त रूप से ही समझ पाता है कि कई बार यह प्रक्रिया उतनी एकरैखिक नहीं होती जितनी वह ड्रॉइंग बोर्ड पर दिखाई पड़ती है। एक महान योजना को बनाना और उसे क्रियान्वित करना एक बात है मगर उसका जीवन और चारित्रिक पहचान इस बात पर निर्भर है कि लोग उसे कैसे देखते हैं। बारादरी और महान निर्माणों में सूक्ष्म सेंध की संभावना तो होती ही है। रात में गाड़ी बरामदा शहर के दिहाड़ी मज़दूरों का रैन बसेरा बन जाता है।

औपनिवेशिक नियोजन में सम्भवतः सब कुछ बुरा भी नहीं था। बेशक उसकी बुनियाद बहुधा कृपालुता और नस्लवाद पर रखी गई थी मगर अब ऐसा लगता है कि उसकी विरासत के कुछ हिस्से ऐसे हैं जिन्हें आज फिर से हासिल करना ज़रूरी है। यह सोच लम्बे समय से हमारे बीच हावी है कि ब्रिटिश शासन की तामीरी विरासत (और उसी पैमाने से, उनका नगर नियोजन भी) भारतीय इतिहास के लिए एक अजनबी चीज़ थी। लेकिन, जान-बूझकर ओढ़ ली जाने वाली इस उदासीनता से हम कई ख़तरनाक रास्तों पर भी भटक सकते हैं। अपने इस्लामी अतीत के प्रति कुछ इसी तरह का रवैया बाबरी मस्जिद के ध्वंस में परिणत हुआ है। औपनिवेशिक अतीत में हमारी कोई हिस्सेदारी नहीं थी, यह मान्यता इतिहास के साथ भयानक तबाही मचा रही है। इसके अलावा, यह उन लोगों की स्मृति के साथ भी अन्याय है जिन्होंने उपनिवेशवाद के भव्य दावों को चुनौती देने में ही अपनी पूरी ज़िंदगी होम कर दी है। समस्या यह है कि औपनिवेशिक आधुनिकता की आलोचना और परम्परा का महिमागान करने वाले हम सभी लोग साफ़-सुथरे फ़्लैटों की सुरक्षित चौहद्दी में स्वच्छ जलापूर्ति ग्रहण करते हुए और यामाहा के जेनरेटरों के पास बैठ कर ऐसा करते हैं। लुटियंस की दिल्ली के तमाम आलोचक इस ख़्वाब में जीते हैं कि काश उन्हें भी पृथ्वीराज रोड पर एक फ़्लैट मिल जाता! यहाँ तक कि हाल ही में विकसित हुए पटपड़गंज की किसी को-ऑपरेटिव हाउसिंग सोसायटी में एक औसत क़िस्म के फ़्लैट का बुद्धिजीवी स्वामी भी उस विस्थापन और विकास के दबाव से शायद अनजान है, जिसने उसके मकान को जन्म दिया है।

सभी औपनिवेशिक तत्त्वों को ख़ारिज करने की गरज़ में न केवल हम तमाम अपेक्षित छवियों के विपरीत उसके चरित्र को एकाश्म ढंग से समझने-बूझने लगते हैं बल्कि ज़रूरी-ग़ैर-ज़रूरी का विवेक भी खो देते हैं। राष्ट्रीय विकास के नाम पर हम भी अकसर वही अन्याय और बेवकूफ़ियाँ करते हैं जिन्हें उपनिवेशवाद ने हम पर लाद रखा था। अतीत को गरियाने की उतावली में हम इस बात को भूलने के नज़दीक पहुँच जाते हैं कि हर परम्परा की एक प्रति-आलोचना होती है। इसीलिए अब समय आ चुका है कि स्कॉटिश नगर नियोजक और जीवविज्ञानी पैट्रिक गेडेस की स्मृति और कृति को पुनर्जीवित किया जाए।

औपनिवेशिक नियोजन की एक लघुतर (और सम्भवतः आंशिक रूप से ही सफल) धारा का प्रतिनिधित्व करने वाली गेडेस की कृतियों के पुनर्मूल्यांकन का समय आ चुका है। उन्होंने बीसवीं सदी के कई शुरुआती साल भारतीय शहरों का अध्ययन करने में गुज़ारे थे और नगर नियोजन पर तक़रीबन 40 रिपोर्टें लिखी थीं। देश के बहुत सारे ख्यातिप्राप्त बुद्धिजीवियों के साथ उनकी अच्छी दोस्ती थी और वह औपनिवेशिक शासन के ज़रिए भारत में आए विकास व आधुनिकता के मुद्दों से जूझने में पेश आ रही समस्याओं को भलीभाँति समझते थे। उन्होंने टैगोर के शैक्षणिक आदर्शों पर एक भावप्रवण श्रद्धांजलि लिखी और अपने दोस्त, वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बोस की जीवनी लिखी। गेडेस महान औपनिवेशिक योजनाओं के शौक़िया आलोचक नहीं थे। कलकत्ता का सर्वेक्षण करते हुए उन्होंने वहाँ बदलाव की अनिवार्यता साफ़ देखी थी। किसी भी दूसरे नगर नियोजक की तरह उन्हें भी वहाँ ज़्यादा पक्की सड़कों, बेहतर साफ़-सफ़ाई, कुछ खंडहरनुमा मकानों को ढहाने और हरित पट्टियों के निर्माण की ज़रूरत दिखाई दी। कलकत्ता इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के कामों को देखकर उन्हें सबसे ज़्यादा कोफ़्त इस बात से हुई कि ट्रस्ट जो काम कर रहा है उसमें ज़मीनी हक़ीक़तों का ख़याल नहीं किया जा रहा है। जब उनसे कलकत्ता के सबसे दुर्गम इलाक़े, बड़ाबाज़ार, के बारे में रिपोर्ट लिखने के लिए कहा गया तो गेडेस ने कई दिलचस्प सुझाव दिए थे।

मगर पहले यह समझना महत्वपूर्ण होगा कि गेडेस किन चुनौतियों से मुख़ातिब थे। बड़ाबाज़ार के अंदर आवाजाही को सुगम बनाने के लिए वहाँ साफ़-शफ़्फ़ाक चौड़ी सड़क बनाने की योजना तैयार हो चुकी थी। मगर इस योजना की इंसानी और आर्थिक क़ीमतों पर ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि एक पुरानी रिपोर्ट में तो ये सुझाव दिया जा चुका था कि इस पूरी बस्ती को ही समतल कर दिया जाए और उसकी जगह एक रेलवे स्टेशन (जो अब हावड़ा में नदी के पार स्थित है) बनाया जाए!

गेडेस के जवाबी प्रस्तावों में दो दिलचस्प चीज़ें निहायत विशिष्ट हैं। पहला, उन्होंने इस बात को समझा कि अपनी तमाम स्थानीय विशिष्टताओं के बावजूद कलकत्ता के व्यावसायिक केंद्र के रूप में बड़ाबाज़ार औपनिवेशिक विकास प्रक्रिया की ही उपज था। दूसरे, भारतीय भवन परम्परा के आधार पर अपनी सिफ़ारिशें देते हुए वह इस बात से भी अच्छी तरह वाक़िफ़ थे कि इस प्रक्रिया में वह अतीत की सामग्री की एक नई व्याख्या के बीज बो रहे हैं। वह स्थानीय समस्याओं के पहले से तयशुदा सार्वभौमिक समाधानों के अहम में नहीं जीते थे। ख़ुद को विकासवादी (एवोलूशनिस्ट) मानने वाले गेडेस को इस बात का ख़ासा अफ़सोस था कि औद्योगिक क्रांति ने ढेर सारी ताक़तों को जन्म तो दिया पर मनुष्य की जैविक परिस्थितियों का ध्यान नहीं रखा। वह विकास को नियति के रूप में स्वीकार करने की बजाय परिवर्तन की इन ताक़तों को एक दिशा देना चाहते थे।

गेडेस बड़ाबाज़ार को एक नए साँचे में ढालना चाहते थे। वह इस बस्ती को एक ऐसा रूप देना चाहते थे जिससे भीड़भाड़ और सघनता को बनाए रखते हुए भी यहाँ की व्यावसायिक गतिविधियों को इस बस्ती के एक ख़ास इलाक़े में केंद्रित किया जा सके और बस्ती के बाक़ी हिस्सों में उपलब्ध इमारतें एक बार फिर रिहायशी मक़सद के लिए इस्तेमाल होने लगें। वह चीज़ों की सार-सम्भाल और ढुलाई के लिए अपने समय के सबसे आधुनिक साधनों को वहाँ लाना चाहते थे। वह जर्मनी और अमेरिका से उपकरण मँगाकर उन्हें कलकत्ता में लगाना चाहते थे (और वह 1919 में लिख रहे थे)। वह चाहते थे कि मालगोदाम के पास स्थित रेलवे लाइनों की बग़ल में एक विशाल 'माल विनिमय' केंद्र हो जहाँ वस्तुओं को रेल के डिब्बों से उठाकर सीधे गोदाम में रख दिया जाए। ज़ाहिर है इस तरह ढुलाई में काफ़ी आसानी हो जाती। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ऊपरी मंज़िलों में दफ़्तर बनाए जाएँ और वहाँ एक लम्बा-चौड़ा और उजालेदार एक्सचेंज बनाया जाए। और तो और, आराम करने और कारोबारी बातचीत के लिए उन्होंने छत पर एक बग़ीचा बनाने का सुझाव भी दिया था! आधुनिक व्यावसायिक कार्यप्रणाली की ज़रूरतों और जगह के बेहतर इस्तेमाल को भाँपते हुए वह पुराने आवासीय मकानों को आधुनिक वेयरहाउसों की तर्ज़ पर बनाए गए गोदामों की तरह इस्तेमाल करना चाहते थे। वह चाहते थे कि इन वेयरहाउसों की ऊपरी मंज़िलों में दुकानें और दफ़्तर हों जो परस्पर छज्जों व गलियारों से जुड़े हों। गलियों की भीड़ को कम करने के लिए उन्होंने सुझाव दिया कि पैदल चलने वालों के लिए गलियों के ऊपर पुल बनाए जाएँ। यह गेडेस के सपने का आधुनिक युटोपियन पक्ष था, लेकिन अपने तमाम उत्साह के बावजूद शायद उन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की सीमाओं को नहीं समझा। वह आधुनिक कार्यप्रणाली के संजीवनी प्रभावों के बारे में कुछ ज़्यादा ही आशावादी थे और उन्हें इस बात का पूरा अंदाज़ा नहीं था कि औपनिवेशिक परिस्थिति कैसी शक्तियों को जन्म देती है।

उनके ख़्वाबों की हद यही नहीं थी। नवनिर्मित वेयरहाउसों की ऊपरी मंज़िल में वह न केवल दफ़्तर बल्कि कुछ रिहायशी क्वार्टर भी बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने भारतीय दालान जैसी परम्परागत योजना का सहारा लिया था। उन्होंने कहा कि यदि इस योजना में घर के आँगन को कुछ मंज़िल ऊँचा उठा दिया जाए तो वह काफ़ी रोशन और हवादार हो जाते हैं। गेडेस चाहते थे कि गलियों को जहाँ तक हो सके यथावत रखा जाए क्योंकि लोग शॉर्टकट और शांति ज़्यादा पसंद करते हैं न कि साधारण सड़क की भीड़-भाड़ को अहमियत देते हैं। वह दिहाड़ी मज़दूरों की ज़रूरतों के प्रति भी संवेदनशील थे। वह जानते थे कि ये मज़दूर अपने काम की जगह के आसपास रहना चाहते हैं। अन्य योजनाकारों के विपरीत वह मौजूदा आवासीय योजना में ज़्यादा निवेश के पक्षधर थे। उन्हें इसका एहसास था कि इमारतों के बारे में बहुत सतही फ़ैसले लिए जा रहे हैं। उन्होंने देखा कि कई ऐसी इमारतें भी गिराई जा रही थीं जिन्हें मामूली मरम्मत के बाद लम्बे समय तक चलाया जा सकता था। उन्होंने पुश्तैनी मकानों के प्रति पीढ़ियों पुराने लगाव को बढ़ावा देने का सुझाव दिया।

आवासीय इलाक़ों में इमारतों की क़तार-दर-क़तार को ढहाने की बजाय गेडेस केवल कुछ अस्वच्छ मकानों को ही गिराने के पक्षधर थे। उन्होंने कहा कि ऐसे मकानों को ढहाने से जो जगह निकलती है उसे छोटे-छोटे खुले इलाक़ों और पार्कों में तब्दील कर दिया जाए, वहाँ औरतों के लिए 'पर्दा बाग़' बनाए जा सकते हैं या पवित्र पेड़-पौधों और स्थानीय देवी-देवताओं की स्थापना करके उन्हें गरिमामंडित किया जा सकता है। गेडेस ने इस योजना को 'रूढ़िवादी शल्य चिकित्सा' का नाम दिया था। उनकी इस योजना पर अफ़सरों ने काफ़ी हाय-तौबा मचाई क्योंकि वह इस बात पर मुतमईन थे कि ऐसे छोटे-छोटे खुले स्थान रातों-रात कूड़ा घर बन जाएँगे। मगर सच यह है कि जहाँ कहीं भी ऐसे इलाक़े बचे रह पाए, वह गेडेस की उम्मीदों पर खरे साबित हुए।

कुछ साल पहले मैंने खुद ऐसा ही एक पार्क देखा जो शायद कभी इसी तरह अनायोजित ढंग से बना होगा। दिल्ली की सबसे व्यस्त और प्रदूषित सड़कों में से एक (बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग) पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) और भारत के महालेखाकार के दफ़्तर स्थित हैं। ये दोनों इमारतें एक अर्धवृत्त का निर्माण कर देती हैं जिसके बीचोंबीच चारों तरफ़ से बंद एक पार्क दिखाई देता है। हाल ही में कुछ लोगों ने इस पार्क पर ध्यान दिया है और उन्होंने उसे एक नया नाम, बल्कि एक लम्बा नाम दे दिया है। यह नाम निश्चय ही नौकरशाही उत्साह के दौर में रखा गया होगा। इसका नया नाम है 'लोकहितार्थ सत्यनिष्ठ उद्यान'। यदि आत्म अनुशासित बाबूपने की हैसियत उजागर करने वाली इस कोशिश को अनदेखा कर दें और इस बग़ीचे में दाख़िल हों तो आप इस बात को समझ सकते हैं कि जब गेडेस भीड़-भाड़ वाले इलाक़े के बीचोंबीच भी शीतलता, शांति और विश्राम की सम्भावना की बात कर रहे थे तो उनका क्या आशय था। जब यूजीसी और शिक्षकों के बीच किसी बात को लेकर ठन जाती है तब यही पार्क शिक्षक संगठनों के धरने का भी मुक़ाम बन जाता है! निस्संदेह हमें उस बेनाम नौकरशाह को भी धन्यवाद देना चाहिए जिसने इस बग़ीचे को यह बोझिल सा नाम दिया है। अगर ध्यान से देखा जाए तो निश्चय ही कई दूसरे उदाहरण भी दिखाई पड़ जाएँगे। लुटियंस ने दिल्ली में गोल चक्कर बनाए, उनके बीच में घास की परत बिछाई, फूलों की क्यारियाँ बनाईं और इस तरह दिल्ली की शालीनता में अपना एक स्थायी योगदान दे दिया।

हम विविधता भरे शहरों में तो रहना चाहते हैं मगर तभी जब उनमें आधुनिकतम सुविधाएँ भी मौजूद हों। जब भी हम किसी भलेमानस को सड़क किनारे की दीवार गीली करते हुए देखते हैं, हम सोचने लगते हैं काश यहाँ भी एक सुलभ शौचालय होता। मगर आधुनिकता को अपनाने की अपनी उमंग में हम उन छोटी-छोटी चीज़ों को अकसर भूल जाते हैं जिनसे बुनियादी क़िस्म का फ़र्क़ आ जाता है। अब मैं फिर वहीं लौट रहा हूँ जहाँ से मैंने बात शुरू की थी। औपनिवेशिक अतीत से सहमर्मिता से मेरा आशय उन सम्भावनाओं से था जो आधुनिक शहर से अपरिहार्य मुठभेड़ होने पर हमारे सामने खुलती दिखाई दे रही थीं। पैट्रिक गेडेस और उनके जैसे बहुत सारे लोग इस मौक़े का फ़ायदा उठाकर हमारे लिए कुछ बेइंतिहा दिलकश और इंसानी चीज़ें बनाना चाहते थे। बहरहाल, अतीत के ख़ज़ाने में हर दौर को देने के लिए कोई न कोई सौग़ात तो होती ही है, हर दौर हम सबके लिए कुछ न कुछ पेश करता रहता है।